तित्थयर

जैन भवन

वर्ष ५ अंक ६ : अक्टूबर १९८१

बनारसी साड़ी

इण्डियन सिल्क हाउस
कॉलेज स्ट्रीट मार्केट • कलकत्ता

Prakash Trading Company

12 INDIA EXCHANGE PLACE
CALCUTTA-700001

Gram : PEARLMOON — Telephone : 22-4110, 22-3323

The Bikaner Woollen Mills

Manufacturer and Exporter of Superior Quality Woollen Yarn/Carpet Yarn and Superior Quality Handknotted Carpets

Office and Sales Office :

BIKANER WOOLLEN MILLS
Post Box No. 24
Bikaner, Rajasthan
Phones : Off. 3204
Res. 3356

Main Office
4 Mir Bhor Ghat Street
Calcutta-700007
Phone : 33-5969

Branch Office
The Bikaner Woollen Mills
Srinath Katra : Bhadhoi
Phone : 378

तित्थयर

श्रमण संस्कृति मूलक मासिक पत्र
वर्ष ५ : अंक ६
अक्टूबर १९८१

□

संपादन
गणेश ललवानी
राजकुमारी बेगानी

□

आजीवन : एक सौ एक
वार्षिक शुल्क : दस रुपये
प्रस्तुत अंक : एक रुपया

□

प्रकाशक
जैन भवन
पी - २५ कलाकार स्ट्रीट
कलकत्ता-७००००७

□

मुद्रक
सुराना प्रिन्टिंग वर्क्स
२०५ रवीन्द्र सरणी
कलकत्ता-७००००७

सूची

ज्योति से ज्योति जले १६५
भारतीय राजनीति में
जैन धर्म का योगदान १६६
त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र १७६
जैन दर्शन में कर्मवाद [२] १८५
जैन शास्त्र में नारी का स्थान १८६
जैन पत्र-पत्रिकाएँ : कहाँ/क्या १९२

भगवान ऋषभनाथ, औराई, जलौन, उत्तर प्रदेश

ज्योति से ज्योति जले

मुनि रूपचन्द्र

"तुम्हीं अपने मित्र हो, शत्रु हो, दूसरा कोई नहीं है। तुम्हीं अपने कर्ता-विकर्ता हो, दूसरा कोई नहीं है। सब अपने त्राण हैं, शरण हैं। कोई किसी दूसरे के लिए त्राण नहीं है, शरण नहीं है। ऊपर, नीचे, दाएं, बाएं कर्म के अनन्त स्रोत प्रवाहित हो रहे हैं जिनसे बाहर कहीं भाग कर बचा नहीं जा सकता। जब तक तुम्हारी चेतना पर-रमण कर रही है, तुम्हारे लिए कहीं मोक्ष नहीं है। जब वह स्व-रमण करेगी, तुम्हारे लिए कहीं बन्धन की सत्ता ही नहीं रहेगी।"

और विश्वचक्षु धर्म-तीर्थंकर महावीर के स्पन्दित अधर सहसा निस्पन्द हो गए, देह निस्पन्द हो गयी। सोलह प्रहर तक सतत् प्रवाहमान वाग्धारा अचानक रुक गयी। एक दिव्य ज्योति से उनका विग्रह ज्योतिर्मान हो उठा और कार्त्तिकी अमावस्या की वह रात कल्मष के अगणित अवतरणों को लेकर नर-किन्नर, देव-दानव, यक्ष-राक्षस, स्थावर-जंगम सारे प्राणियों पर जो प्रभु के अन्तिम समवसरण में उपस्थित होकर दिव्य वाणी का अमृतपान कर रहे थे, उतर आयी। प्रभु निर्वाण को प्राप्त हुए। लिच्छवि महागण-संघ के सत्ताईस राजा तथा काशी-कोशल के सम्राट अकल्पनीय पीड़ा से आहत, स्तब्ध, प्रस्तर प्रतिमावत खड़े रहे। निस्तब्ध जल-थल में सर्वत्र तिमिर की असंख्य परतें अट्टहास कर उठीं। ज्योति चली गयी, रह गया डरावना अन्धकार, भीतर और बाहर, सर्वत्र।

महाकरुणा का अजस्र स्रोत

अभी इसी स्थल पर प्रभु की दिव्य वाणी उनके कानों में पीयूष प्रवाहित कर रही थी। इससे पूर्व न जाने कितनी बार यह वाणी उन्होंने सुनी थी। काशी, कोशल, वैशाली, पावा, चम्पा, राजगृह—सब गत तीस वर्षों से एक ज्योतिर्मय विग्रह के आलोक से सतत् सिंचित, चिन्मयता के अगणित अनजाने आयामों में डूबते जा रहे थे। एक प्लावन-सा आ गया था इस भूखण्ड में और सारा देश उसमें बह रहा था, तैर रहा था, डूब रहा था, अपने को खोकर अपने को पा रहा था। महाश्रमण के क्रान्त चरण लोकचेतना में विद्युत की धारा प्रवाहित करते ग्रामों, नगरों, सन्निवेशों और जनपदों को मापते जा रहे थे और तोड़ते जा रहे थे अनन्तकाल से मानव चेतना को आच्छन्न करने वाले

कर्मों के अटूट पाश। चौदह हजार श्रमणों, छत्तीस हजार श्रमणियों, लाखों गृहस्थ नर-नारियों का विराट् समुदाय जीवन-मुक्ति के पथ पर महाश्रमण की वाणी के दिव्य आलोक में बढ़ता जा रहा था। एक सम्पूर्ण क्रान्ति लोक-जीवन का समग्र रूपान्तरण कर रही थी। एक ज्योति-पुंज प्रकट होकर दिन-रात फैलता जा रहा था, प्रभु की महाकरुणा उसे अपने प्राणों से सींच रही थी और आज.... ?

अभय और समता का सन्देश

"ण माइयव्वं"—भय मत करो। न रोग से, न वार्धक्य से, न मृत्यु से—किसी से मत डरो। प्रभु का अभय सन्देश हिंसा, क्रूरता, शोषण, उत्पीड़न और आतंक से घुटते जन-जीवन में आग की तरह फैल गया और जला कर राख कर गया मानवीय चेतना के बन्धनों को, कुण्ठाओं को, ग्रन्थियों को। हरिकेशबल चाण्डाल की तपोमहिमा को प्रभु ने जातिवादी संकीर्णताओं पर सशक्त प्रतिष्ठा दी। शताब्दियों-सहस्राब्दियों से जातीय हीनता के दुखद संस्कारों के नीचे पिसते न जाने कितने चित्र, संभूत एवं मैतार्य इस दिव्य घोष को सुनकर पुलकित हो उठे—तप की ही होती है महिमा, न कि जाति की। श्वपाक पुत्र हरिकेशबल की ऋद्धियां तथाकथित उच्च कुलस्थ महानुभावों के लिए भी अनुपलब्ध हैं। अन्धविश्वासों की जिस शृंखला ने नारी को संन्यास-साधना एवं मोक्ष-प्राप्ति के अधिकार से वंचित कर पुरुष की भोग्या, परिवार एवं समाज की सेविका, चल सम्पत्ति मात्र बना रखा था, वह चरमराकर टूट गयी। प्रभु ने उन्मुक्त घोषणा की—मोक्ष सबको सुलभ है, चाहे वह नर हो अथवा नारी। राग से होता है बन्धन, वीतरागता से टूट कर हो जाता है छिन्न-भिन्न। रह जाती है चेतना अपने स्वभाव में। वह स्वभाव कहीं से आता नहीं है, अतः कहीं जाता भी नहीं, सदा विद्यमान रहता है हमारे भीतर। प्रभु के द्वारा प्रवर्तित संयम तीर्थ में दीक्षित छत्तीस हजार साध्वियां नारी-मुक्ति का तूफानी सन्देश रूढ़िगत राष्ट्र की चेतना में तीव्रता से प्रसारित करती जा रही थीं, अपने जीवन की साधना से, वैराग्य से।

"शत्रु कहीं नहीं है बाहर, वह भीतर है। उसे जानो। जान लोगे तो जीत लोगे, जानना ही जीतना है। प्रमत्त उसे जानता नहीं, अतः जीत नहीं पाता। अर्हत् जानता है, अतः जीत लेता है। तुम्हारे भीतर का यह शत्रु तुम्हारा अहं है, देहात्मबोध है। इसी से निष्पन्न होते हैं राग-द्वेष। क्रोध, मान, माया, लोभ, सारे आस्रव और कषाय जो अधःपतन के गह्वर में धकेलते जाते हैं तुम्हारी आत्मा को। प्रभु के शब्द-तरल अग्नि जैसे मोम की परतों को

विदीर्ण कर उसमें पैठ जाती है, जैसे ही लोक मानस में युगों से संचित विकृतियों को जला कर उसमें उतर रहे थे। न जाने कितने चण्डकौशिक निर्विष हो गए प्रेम की उस मधुर दुग्ध-धारा का पान कर, कितने अर्जुनमाली रक्त से लथपथ, घृणा एवं प्रतिशोध की हिंसक कालिमा से आच्छन्न अन्तश्चेतना को करुणा की स्रोतस्विनी में निमज्जित कर नवजात शिशु-जैसे निर्मल-निष्पाप हो गए। न जाने कितने क्रूर संगम देव और शूलपाणि यक्ष उनकी दिव्य चेतना से सतत् प्रवाहमान करुणा के आलोक-प्लावन में डूब कर प्रायश्चित करने लगे थे गत कर्मों का। जिस रात बीस मरणान्तिक कष्ट देकर संगम हार गया और प्रभु के चरणों में झुका, वह रात उसके जीवन में ज्योति का नव सन्देश लेकर आयी अपने मस्तक पर पड़े अश्रु-बिन्दु से चौंक कर उसने पूछा—"सारी रात परिषह दिए, तब तो निस्पन्द थे आप, अब यह आंसू कैसे?" प्रभु ने कहा—"संगम! ये मेरे लिए नहीं, तेरे लिए फूट पड़े हैं। मेरे तो पूर्वकृत कर्म भोगे जाकर कट गए हैं लेकिन तुम्हारे ऐसे क्रूर कर्मों का बन्धन हुआ है जिनको अगणित जन्मों में भी भोग कर शेष करना दुष्कर होगा। मुझे निमित्त बना कर पापों के दुर्वह भार से तुमने चेतना को लाद लिया।" प्रभु के चरणों पर टिका संगम का मस्तक उठना चाहता ही नहीं था मृत्यु के साक्षात् प्रतिरूप वज्रहृदय देव की आंखें जाने कितनी शताब्दियों के बाद उस पल भर आयी थी।

हिंसा ही नरक है

हिंसा से आक्रान्त जगत् को प्रभु ने करुणा, प्रेम और मानवता का पावन सन्देश दिया—ज्ञान का सार यही है कि किसी की हिंसा मत करो। सब प्राणियों को अपने जैसा, अपने को सबके जैसा समझो—विचार, भावना, कामना और कर्त्तव्य के सारे स्तरों पर। यह समता ही अहिंसा है, वीतरागता है, मुक्ति का पावन पथ है. हिंसा ही बन्धन है, मरण है नरक है। अतीत के सारे अर्हतो ने यही कहा है वर्तमान के सारे अर्हतों का यही कहना है, भविष्य के सारे अर्हत् भी यही कहेंगे—किसी भी प्राणी को न मारना, दास न बनाना, शोषित न करना, पीड़ित न करना, उद्विग्न न करना, यही धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है, आत्मज्ञ अर्हतों द्वारा प्रवेदित है।

विषमता एवं शोषण, वर्ग-भेद एवं वर्ग-संघर्ष से आक्रान्त जगत् को प्रभु ने अपरिग्रह का जीवन-सूत्र दिया : सारे प्राणी जीना चाहते हैं जैसे तुम चाहते हो : मरना नहीं चाहते जैसे तुम नहीं चाहते। सारे प्राणी सुख चाहते हैं जैसे तुम चाहते हो : दुःख नहीं चाहते जैसे तुम नहीं चाहते। जीवन सबका है,

जीवन के साधन सबके हैं, अतः किसी का शोषण मत करो, किसी की वृत्ति का उच्छेद मत करो, किसी को जीवन-साधनों से वंचित मत करो। धन का संग्रह मत करो। सन्निधि आवश्यकता से अधिक जीवन-साधनों और उनके स्रोतों का संचय शस्त्र है—हिंसा का उपादान शेष मानव एवं मानवेतर प्राणी जगत् के लिए। अतः परिग्रह मत करो, संग्रह मत करो, विसर्जन करो धन का, जीने के साधनों का। जो विसर्जन नहीं करता वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता

सत्य एक है

अहंकारमयी आग्रहवृत्ति से आक्रान्त व्यक्तियों, समुदायों, सम्प्रदायों के लिए प्रभु ने अनेकान्त का उदार सिद्धान्त प्ररूपित किया : "एक है सत्य, पर अनेक हैं उसके पक्ष, हमारी सापेक्ष चेतना के स्तर पर। अनेक हैं उसकी अभिव्यक्तियां हमारी भाषा के स्तर पर, भौतिक प्रतीकों के स्तर पर। अतः "ही" का आग्रह मत करो, "भी" की चेतना में रह कर अपनी बात सबको कहो, सबकी बात स्वयं सुनो। वह जो अपने मत की प्रशंसा करता है, दूसरों के मत की निन्दा करता है, दूसरों को भ्रमित करता है, वह संसार-चक्र में दीर्घकाल तक स्वयं भ्रमित होता है। वे जो कहते हैं कि उनके सम्प्रदाय में रह कर ही मोक्ष-प्राप्ति हो सकती है, निरे अज्ञानी हैं, दम्भी हैं तथा अज्ञान और दम्भ का ही प्रसार सर्वत्र कर रहे हैं।"

पर आज निश्चल है प्रभु का पावन विग्रह। अनन्त में समा गयी है प्रभु की आत्मज्योति, अनन्त ज्ञान, दर्शन, वीर्य-पराक्रम का निःसीम पुंज। गहराता जा रहा है यहाँ अन्धकार। कहाँ मिलेगी ज्योति अब अन्धकार में भटकते प्राणियों को? कौन करेगा उजाला कोटि-कोटि जीवों के लिए? असह्य हो उठी है काल-रात्रि की तिमिर वेदना। चीत्कार कर उठे हैं कोटि कंठ—"प्रकाश करो, मिटाओ इस अन्धेरे को, भयावह है यह, असहनीय है यह—" और उस रात घर-घर में दीप जल उठे, प्राचीरों पर दीपमालाएं जगमगा उठीं, बाजारों में दीपों की कतारें जल उठीं, लाखों-करोड़ों दीपों की अन्तहीन कतार अन्धकार से जूझने लगी। लेकिन अन्धकार भीतर का था, बाहर के दीप तो उसके प्रतीक मात्र ही हो सके।

तब से पचीस सौ वर्ष बाद, अब तक भी कोटि-कोटि मानव माटी के दीप जला कर दुहरा रहे हैं उस संकल्प को, मृत्यु से अमरता, असद् से सद्, अन्धकार से प्रकाश की ओर मानव चेतना की महायात्रा की शाश्वत प्रेरणा को, किन्तु सिर्फ ऊपरी स्तर पर। भीतरी स्तर पर कभी कहीं एक भी दीप जल उठेगा तो संसार को आलोकित होते कितने क्षण लगेंगे?

भारतीय राजनीति में जैन धर्म का योगदान

लक्ष्मी नाहटा

भारतीय इतिहास में यदि किसी जाति या धर्म की देन उपेक्षित है तो वह है जैन जाति या धर्म की, ऐसा यदि मैं कहूँ तो यह कोई अत्युक्ति नहीं होगी। क्योंकि जब भी मैं भारतीय इतिहास की कोई पुस्तक खोलती हूँ तो वहाँ जैनों के विषय में मात्र कुछ पंक्तियाँ ही पाती हूँ। भगवान महावीर बुद्ध के समसामयिक थे। उन्होंने भी बुद्ध की भाँति अहिंसा धर्म का प्रचार किया, वे तप पर जोर देते थे आदि ऐसा ही कुछ लिखकर जैन धर्म की इति कर देते हैं, किन्तु बौद्ध के अवदान के विषय में भारतीय इतिहास में काफी चर्चा पायी जाती है। जबकि भारतीय सभ्यता और संस्कृति में जैनधर्म का योगदान बौद्धों की अपेक्षा व्यापक और घनिष्ठ रहा है। जैन धर्म की स्थापत्य कला और मूर्ति कला का निदर्शन भारत के कोने-कोने में मोजूद है। जैन धर्म का साहित्य इतना विशाल और बहुमुखी है कि वह ब्राह्मण धर्म के साहित्य का मुकाबला करने में पूर्ण समर्थ है। ऐसी परिस्थिति में यह हमारा प्रमुख कर्त्तव्य हो जाता है कि हम अपने उन अवदानों को जो कि हमने भारतीय साहित्य, कला और संस्कृति को प्रदान किए हैं लोक मानस के समक्ष उपस्थित करें।

इसी कथ्य को दृष्टिगत करते हुए आज मैं एक विषय पर प्रकाश डालूँगी जो कि स्वयं में गौरवपूर्ण है, महत्वपूर्ण है—वह है 'जैन धर्म का भारतीय राजनीति में योगदान'। लोग कहते हैं जैन धर्म मात्र साधु, यति एवं वणिकों का धर्म है। किन्तु, यदि हम भारतीय इतिहास पर एक विहंग दृष्टि डालें तो पाएँगे कि जैन साधु एवं श्रावकों ने केवल धर्म, साहित्य और कला को ही अपना क्षेत्र नहीं बनाया है भारतीय राजनीति में भी अन्य धर्मों की भाँति ही उनका बराबर योगदान रहा है। प्राक् इतिहास काल की बात यदि हम छोड़ भी दें तब भी भगवान महावीर के ऐतिहासिक काल से भी जो तथ्य हमे प्राप्त होते हैं उसके आधार पर ही दावे के साथ हम यह कह सकते हैं कि जैन धर्म का भारतीय राजनीति में सर्वदा योगदान रहा है। इतिहास प्रसिद्ध श्रेणिक बिम्बसार, वैशाली के चेटक, अवन्ती के सुप्रसिद्ध प्रद्योत आदि सभी राजा भगवान महावीर के अनुयायी थे। नन्द राजगण के मन्त्री शकटाल जैन धर्मावलम्बी ही थे जिनके पुत्र स्थूलभद्र अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के

शिष्य थे और उनसे चौदह पूर्वों का ज्ञान अर्जित किया था। मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त के महामात्य चाणक्य जिनका अर्थशास्त्र भारतीय राजनीति का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ माना जाता है और जिन्हें भारतीय मैकियाभिली कहा जाता है जैन परम्परानुसार जैन ही थे। अवश्य ही गुप्तकाल में जैनों का प्रभाव कुछ ह्रास प्राप्त हुआ पर लुप्त नहीं हुआ। श्री० ए० सालेटोर अपने Mediaeval Jainism नामक ग्रन्थ में यह स्पष्टतया दिखाते हैं कि दक्षिण भारत के गंगा, राष्ट्रकूट आदि अधिकांश राजवंश जैन धर्मावलम्बी थे एवं जैन आचार्यों से प्रभावित थे। इन राजवंशों की प्रतिष्ठा और विस्तृति में जैनाचार्यों का विशेष योगदान था। जिनसेन और उनके शिष्य गुणभद्र, राष्ट्रकूटराज अमोघवर्ष तथा उनके पुत्र द्वितीय कृष्ण से सम्बन्धित थे। यह बात इसलिए महत्वपूर्ण हो जाती है कि जिनसेनाचार्य के आदि पुराण में राष्ट्र का उद्भव किस प्रकार होता है इसका सुन्दर वर्णन दिया गया है। इनके कुछ बाद ही सोमदेव सूरि हुए जिन्होंने कि अपने ग्रन्थ के आरम्भ में ही "अथ धर्मार्थ फलाय राज्याय नमः" लिखकर राष्ट्र की महत्ता को प्रदर्शित किया है। क्योंकि धर्म अर्थ की अभिवृद्धि का मूल राष्ट्र ही है, अतः सर्वप्रथम राष्ट्र को ही नमस्कार किया है। इसी आदर्श को बारहवीं सदी में हेमचन्द्राचार्य ने गुजरात में सत्य कर दिखलाया है। उन्हीं के प्रभाव से गुजरात एक अहिंसक राष्ट्र बना। इतना ही नहीं जिस स्वराज्य और अहिंसा के आदर्श ने महात्मा गाँधी को प्रभावित किया, अनुप्राणित किया, उसका प्रेरणा स्रोत बारहवीं सदी का कुमारपाल कालीन गुजरात था।

मुस्लिम काल में राजनैतिक क्षेत्र में जैन श्रावक एवं आचार्यों का योगदान बराबर रहा है। अलाउद्दीन खिलजी के टकशाल प्रमुख ठक्करफेरू जैन श्रावक थे। आचार्य जिनभद्र सूरि का मुहम्मद तुगलक पर प्रभाव सर्वविदित ही है। अकबर प्रभावक जिनचन्द्र सूरि एवं जिनहर्ष सूरि आदि भी इस कोटि में आते हैं। महाराणा प्रताप को अपना सर्वस्व दान कर देने वाले इतिहास प्रसिद्ध भामाशाह जैन थे। चितौड़ जो अपनी स्वाधीनता के लिए निरन्तर लड़ते रहने में समर्थ हुआ उसके मूल में राष्ट्र प्रेमी भामाशाह का दान ही दधीचि के अस्थिदान तुल्य था। विमल शाह, वस्तुपाल, तेजपाल जैसे मन्त्रियों, सेनापतियों एवं राज्य कर्मचारियों की एक अलग ही परम्परा रही है। श्रमण बेलगोल में बाहुबली मूर्ति के प्रतिष्ठाता चामुण्डराय गंगा वंश के सेनापति थे। यह कथन पूर्णतः निराधार है कि जैनगण केवल व्यवसाय और धर्म तक ही सीमित रहे।

अब मैं जैन साहित्य में राष्ट्र की प्रयोजनीयता, राज्य संचालन एवं दण्ड आदि के जो प्रारूप मिलते हैं उनकी चर्चा करूँगी।

पाश्चात्य राजनीति में Hobbes, Locke, Rousseau के मतवाद काफी प्रमुखता रखते हैं। Hobbes का कहना है कि मनुष्य स्वभाव से ही कुटिल होते हैं। परिणामतः बलवान निर्बल को निगल जाता है। इसलिए एक ऐसा शक्तिशाली राष्ट्र चाहिए जो सबकी रक्षा कर सके। Hobbes के मतानुसार Rule of Jungle या मत्स्यन्याय से बचने के लिए चाहिए राष्ट्र, एक शक्तिशाली राष्ट्र। Locke की धारणा इसके सर्वथा विपरीत है। वे मनुष्य के सद्भाव पर विश्वास करते हैं। मनुष्य मूलतः कुटिल नहीं है। किन्तु, सब कुछ व्यवस्थित ढंग से चलाने के लिए एक राष्ट्र की महती आवश्यकता है। राज्य मात्र एक व्यवस्था है। शासन की बागडोर उनके हाथों में नहीं देनी चाहिए जो व्यक्ति को स्वातन्त्र्य शून्य ही कर डाले। Rousseau का मतवाद इससे भी भिन्न है। वे कहते हैं समाज के विवर्त रूप में राष्ट्र का उद्भव होता है जो कि सभी वर्ग का समान रूप से पोषण करता है। इन मतवादों में कोई मतवाद भ्रान्त है यह मैं नहीं कहती। क्योंकि तीनों ही मतवादों में कुछ सत्य अंश अवश्य है। हर मनुष्य बुद्ध या महावीर नहीं होते, ज्यादातर कुटिल ही होते हैं, जैसा कि Hobbes कहता है। अतः राष्ट्र तो अवश्य चाहिए पर ऐसा राष्ट्र नहीं जो व्यक्ति को स्वातन्त्र्य शून्य कर दे या उसकी सम्पत्ति ही हड़पना प्रारम्भ कर दे। Locke की चेतावनी इसलिए है कि सत्ता एक उन्माद है। यह उन्माद ही तानाशाही को जन्म देती है। इस तानाशाही से बचने के लिए, सभी वर्ग के उचित पोषण के लिए Rousseau राष्ट्र को पोषणकारी कहा है। इसमें जो राष्ट्र इसके विपरीत जाता है उसे विप्लव के द्वारा नष्ट करने का अधिकार इसमें रहता है।

अब हम जिनसेनाचार्य के मतवाद का निरीक्षण करेंगे। जिनसेनाचार्य की धारणा Locke की भाँति ही सुखी समाज की थी। इस अवसर्पिणी काल के प्रारम्भ में सुख ही सुख था। उस युग के भारत के निवासी युगलिकों का कोई अभाव नहीं था। उनकी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति कल्पवृक्ष से होती थी। वे सुख से जीते, सुख से विचरते थे। उस समय न राष्ट्र था, न राष्ट्र व्यवस्था। किन्तु यह रीति अधिक दिनों तक नहीं रह सकी। समय परिवर्तन के साथ-साथ कल्पवृक्ष का ह्रास होने लगा। जैसे-जैसे अभाव बढ़ता गया वैसे-वैसे समाज व्यवस्था की आवश्यकता महसूस होने लगी और

समाज व्यवस्था के लिए योग्य समाज व्यवस्थापक की। इस सिलसिले में चौदह कुलकर या मनु का आविर्भाव हुआ जो कि विशिष्ट बुद्धि सम्पन्न लोक-व्यवस्थापक थे। जिनसेनाचार्य के मतानुसार प्रथम कुलकर प्रतिश्रुति थे। उनके समय में कल्पवृक्ष का आलोक समाप्त हो जाने से सूर्य, चन्द्र, ग्रह, तारे आदि दिखायी देने लगे थे। लोग भयभीत थे। प्रतिश्रुत ने उनके विषय में सही बातें समझायी तब वे भयरहित हुए। क्रमशः यह परिवर्तन धरती पर भी होने लगा। नदी, पर्वत आदि दिखाई देने लगे। जीव-जन्तु जो कि अब तक शान्त प्रकृति के थे हिंस्र होने लगे। अतः द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ कुलकरों ने लोगों को यह बताया कि किस प्रकार इस बदलती हुई परिस्थितियों में अपनी रक्षा करनी होगी, किस प्रकार हिंस्र जीव से बचना होगा, किस प्रकार पालतू जीव उपयोगी हो सकते हैं आदि-आदि। किन्तु जब कल्पवृक्ष ही नष्ट होने लगे तो मनुष्य की प्रवृत्तियों में स्वार्थ पनपने लगा। अब वे कल्पवृक्षों के अधिकार के लिए लड़ने लगे। तब पंचम कुलकर सीमंतक का आविर्भाव हुआ। सीमंतक ने कल्पवृक्ष की सीमा बाँध दी। यहीं से private property अर्थात व्यक्तिगत सम्पत्ति प्रारम्भ हुई। अन्तिम चौदहवें कुलकर नाभि तक आते-आते कल्पवृक्ष पूर्णतः अदृश्य हो गए। बादल परिलक्षित हुए, जल बरसा। वृक्ष लता गुल्मादि का जन्म हुआ। नाभि ने उन्हें समझाया कौन-सा फल खाने योग्य है कौन-सा नहीं।

नाभि के पुत्र ऋषभ ने मनुष्य को प्रथम कृषि, वाणिज्य, वस्त्र बुनना, अग्नि प्रज्ज्वलित करना आदि सिखाया। कार्यानुसार मनुष्यों को क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र तीन भागों में विभाजित किया। ग्राम नगर आदि की प्रतिष्ठा की। अतः लोगों ने उन्हें अपने सभी दुःखों के निवारक रूप राजा बनाया। राज्य व्यवस्था प्रतिष्ठित हुई। ऋषभ के अधीन भी चार राजा बने। इनके अधीन एक हजार छोटे राजा बने। ऋषभदेव ने दण्ड नीति का भी प्रवर्तन किया। क्योंकि बढ़ते हुए अपराधों को रोकने के लिए दण्ड की आवश्यकता अनुभूत हो रही थी।

दण्ड के विवर्तन का इतिहास भी जिनसेन ने प्रस्तुत किया है। जब कल्पवृक्ष द्वारा आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी तब दण्ड का प्रयोजन नहीं था। किन्तु, जब कल्पवृक्षोंके अभाव में लोग अपराध करने लगे तब प्रथम पाँच कुलकरों के समय हकार नीति अर्थात 'हाय तुमने यह क्या किया' अपनायी गयी। उस समय लोग इतने से ही अपराध करना छोड़ देते थे। बाद में

जब हकार नीति से भी वे प्रतिबोधित नहीं होते तो बाद के पाँच कुलकरों को मकार नीति अर्थात् 'ऐसा मत कर' कहना पड़ा। जब इससे भी अपराध करना नहीं छोड़ा तो अन्तिम कुलकरों के समय धिक्कार अर्थात् 'तुझे धिक्कार है' दण्डनीति बनी। परन्तु ऋषभदेव के समय में विशेष रूप से भरत के राज्यकाल में अपराधियों को कायिक दण्ड देना प्रारम्भ हुआ। भरत ने तो मृत्यु दण्ड जैसा कठोरतम दण्ड भी प्रारम्भ किया ताकि लोग मृत्यु भय से घृणित कार्य करना छोड़ दे।

जिनसेन द्वारा वर्णित इस विवरण से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि Locke की भांति ही राज्य को उन्होंने एक व्यवस्था ही माना है। वे यह मानकर चलते थे कि प्रजाकुल आदि की रक्षा राजा का धर्म है। वे स्वयं धर्म का पालन करें और प्रजा को भी धर्म पथ पर परिचालित करें।

जैन सूत्रों में चक्रवर्ती राजा का भी उल्लेख पाया जाता है। उन्होंने सार्वभौम राष्ट्र की कल्पना भी की है। किन्तु जैन व्यवस्थानुसार सार्वभौमकत्व का तात्पर्य यह नहीं है कि वह तानाशाही राज्य हो। भरत से लेकर आज तक जितने भी चक्रवर्त्तियों का नाम हम पाते हैं उन सभी सम्राटों ने अपने सुख के लिए नहीं बल्कि प्रजा के लिए राज्य किया और उनमें प्रायः ने राज्य परित्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण की।

जैन सूत्रों में अराजक अवस्था का भी वर्णन मिलता है। अराजक राज्य में जैन साधुओं का जाना उचित नहीं है कहते हुए आचारांग सूत्र ने अरायाणि गणरायाणि युवरायाणि दो राज्जाणि वे राज्जाणि विरूद्धराज्जाणि छः प्रकार के राज्यों का नाम उल्लेख किया है। इनका तात्पर्य है जहाँ गणराज्य हो, जहाँ के राजा बालक हों, जहाँ दो राजा राज्य करते हों, जहाँ कोई राजा राज्य नहीं करता हो या जो राज्य शत्रु राज्य हो। जैन सूत्रों ने democracy या गणराज्य को अराजक ही माना है भले ही आज वैशाली गणतन्त्र का कितना ही जयगान क्यों न करें।

सोमदेव सूरि का नाम मैं पूर्व ही कह आयी हूँ। वे राष्ट्रकूट नरेश तृतीय कृष्ण के समसामयिक थे एवं देवगण संघ के वे आचार्य थे। सोमदेव की दो रचनाएँ प्राप्त होती हैं—एक यशस्तिलक चम्पू, दूसरा नीतिवाक्यामृतम्।

सोमदेव जिनसेन की भाँति आदर्शवादी नहीं थे। उनका धरातल यथार्थ का धरातल था। उन्होंने धर्म से ज्यादा राज्य को प्रमुखता दी है। कारण राज्य-व्यवस्था सुचारु न हो तो धर्म का आचरण ही असम्भव हो जाता है।

राष्ट्र का उद्देश्य क्या है इसका प्रत्युत्तर देते हुए सोमदेव कहते हैं प्रजा की अभिवृद्धि ही राष्ट्र का उद्देश्य है और राजा के कठोर शासन के बिना वह अभिवृद्धि नहीं हो सकती। अतः राजा केवल व्यवस्थापक मात्र नहीं है वह परिचालक भी है। सोमदेव राजा को पृथ्वी पर भूदेव रूप में माना हैं। सोमदेव जर्मन दार्शनिक Hegel की भाँति राजाओं को manifestation of perfect rationality माना है। अतः राजा कैसा होना चाहिए इसका वर्णन नीतिवाक्यामृत में किया है। राजा को उनके अनुसार प्रतिकूल आचरण करने वालों के लिए यम के समान कठोर दण्ड देने वाला होना चाहिए। राजा षडगुण्य युक्त हो अर्थात सन्धि, विग्रह, यान, आसन, सश्रम, द्वैवीभाव से राज्य परिचालना करें। क्रम और पराक्रम दोनों में से एक को स्वीकार करने वाले राजा का राज्य चिरस्थायी नहीं होता। अतः क्रम और पराक्रम दोनों को स्वीकार करने वाले राजा ही बुद्धिमान और सफल राजनीति वेत्ता होता है। बुद्धि और शक्ति प्राप्त होने पर भी राजा को नीति शास्त्र का ज्ञाता होना आवश्यक है अन्यथा दुर्विनीत, विवेकहीन एवं राजनीति से अनभिज्ञ राजा से प्रजा का विनाश अवश्यम्भावी है। राजा को नास्तिक दर्शन का ज्ञान भी अनिवार्य है। क्योंकि नास्तिक दर्शनों के वेत्ता राजा राष्ट्र कण्टकों को समूल नष्ट कर देता है। अपराध के अनुसार अपराधियों को दण्ड देना राजा का कर्त्तव्य है। राजा को अपनी तथा देश की रक्षा के लिए माता-पिता तथा गुरुजनों के प्रति श्रद्धालु एवं नारी और पाखण्डों से सतर्क रहना नितान्त आवश्यक है।

राष्ट्र सुरक्षा के अन्यतम उपाय सैन्य व्यवस्था के विषय में सोमदेव ने विस्तृत रूप से लिखा है। उन्होंने सेना में हाथी को प्रमुखता दी है। उनके मत से राजा की रक्षा से ही देश की सुरक्षा होती है। अतः राजा की सुरक्षा सर्वोपरि है। राजा की सुरक्षा सैन्य का प्रथम कर्त्तव्य है।

कर-व्यवस्था के विषय में भी सोमदेव ने अपना अभिमत दिया है। वे कहते हैं कर उतना ही लेना चाहिए जितना प्रजा दे सकती हो। अन्यथा अधिक कर से पीड़ित प्रजा विद्रोह के लिए तत्पर हो जाती है। कर भूमि उत्पादन का छठवाँ भाग ही होना चाहिए। सोमदेव का कथन है सुरक्षित प्रजा जो धर्म कार्य करती है उसका भी छठा भाग राजा को प्राप्त होता है।

सोमदेव के दो सौ वर्ष बाद हेमचन्द्राचार्य का आविर्भाव हुआ। समाज व राज्य की उत्पत्ति के विषय में उनका विचार जिनसेनाचार्य की भाँति ही

था परन्तु वे कुशल राजनीतिज्ञ थे। उन्होंने सुन्दर ढंग से राज्य संचालन करने के लिए साम, दाम, दण्ड, भेद की नीति का समर्थन किया। किन्तु अकारण लोक क्षय न हो यह भी कहा है। राज्य विजय के पश्चात् निरपराधियों को क्षमा किया जाए तथा उस स्थान की प्रजा की इच्छाओं को अवगत कर विजित राजा के वंश में से ही किसी को वहाँ का राजा बनाया जाए। यदि वह उनकी प्रभुता स्वीकार करे तो नवीन राजा तथा प्रजा को पुरस्कृत तथा सम्मानित भी किया जाए।

सिकन्दर की राज्य व्यवस्था पर जिस प्रकार अरस्तू का प्रभाव था हेमचन्द्राचार्य का भी उसी प्रकार चालुक्य राजा जयसिंह तत्पश्चात् कुमारपाल की राज्य व्यवस्था पर प्रभाव था। हेमचन्द्राचार्य ने कुमारपाल के माध्यम से जैन धार्मिक आदर्शों को राजकीय शासन में उतारा था। उन्हीं के परामर्श से राजकोष में विधवाओं की सम्पत्ति का लेना बन्द हुआ और अहिंसा राजधर्म बनी। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कुमारपाल दुर्बल शासक थे। अहिंसा नियम को भंग करने वाले को वे कठोरतम दण्ड देते थे, यहाँ तक कि मृत्युदण्ड भी दिया है ऐसा उदाहरण हमारे समक्ष है। जिस अहिंसा को अशोक राष्ट्र धर्म के रूप में प्रतिष्ठित नहीं कर पाए उस अहिंसा को कुमारपाल ने हेमचन्द्राचार्य के प्रभाव से राष्ट्र धर्म के रूप में प्रतिष्ठित कर दिखाया है। वही अहिंसा Non-violence के रूप में आज हमारा राष्ट्रीय धर्म बन गया है।

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

श्री हेमचन्द्राचार्य

[पूर्वानुवृत्ति]

वर्षा के कारण पथ चलना दुष्कर समझ कर धनश्रेष्ठी ने उसी वन में रहना निश्चय किया। एक ऊँचा स्थान देखकर उन्होंने तम्बू डाला। उनकी देखा-देखी अन्य लोगों ने भी तम्बू ताने या कुटी निर्मित की। ठीक ही तो कहा जाता है जो देश और काल-सा आचरण करता है वह सुखी होता है।

श्रेष्ठी के मित्र मणिभद्र ने भी जीव रहित भूमि पर उपाश्रय की भाँति एक कुटी बना दिया। साधु सहित आचार्य वहाँ अवस्थान करने लगे।

साथ में बहुत से लोग थे और अनेक दिन उन्हें रहना पड़ा। अतः उनके साथ जो पाथेय और चारा आदि था सब खत्म हो गया। क्षुधा से पीड़ित वे अन्य सामान्य तपस्वियों की भाँति कन्द-मूलादि के सन्धान में इधर-उधर विचरण करने लगे।

एक दिन सन्ध्या को श्रेष्ठी के मित्र मणिभद्र ने साथियों की दुर्दशा के विषय में श्रेष्ठी से निवेदन किया। यह सुनकर श्रेष्ठी उनके दुःख से इस प्रकार निश्चल होकर बैठ गए जैसे हवा नहीं रहने पर समुद्र निश्चल हो जाता है। इसी प्रकार चिन्ता करते-करते श्रेष्ठी की आँखें लग गयी। ठीक ही तो कहा गया है अति दुःख और अति सुख निद्रा के प्रमुख कारण होते हैं।

रात्रि के शेष प्रहर में शुभचिन्तक अश्वशाला का एक प्रहरी यह कहता हुआ श्रेष्ठी का गुणगान कर रहा था—

'हमारे जो स्वामी हैं उनका यश चारों ओर विस्तृत हैं। यद्यपि अभी दुःख का समय आ गया है तब भी वे आश्रितों की भली-भाँति पोषण करते हैं।'

यह गुणगान श्रेष्ठी धन के कानों में पहुँचा। वह सोचने लगा—'किसने मेरी भर्त्सना की? मेरे साथ कौन दुःखी है? अरे हाँ—हमारे साथ जो आचार्य धर्मघोष आए थे वे तो केवल वही भिक्षा ग्रहण करते हैं जो न उनके लिए बना है, न बनाया गया है। वे कन्दमूल का तो स्पर्श भी नहीं करते। इस दुःसमय में न जाने उनकी क्या अवस्था हुई है। राह में सारी व्यवस्था मैं करूँगा कहकर, आश्वासन देकर मैं ले आया पर उन्हें मैंने एकबार याद

भी नहीं किया। अब उनके पास आकर अपना मुँह कैसे दिखाऊँ? फिर भी आज उनके पास जाऊँगा और उनका दर्शन कर स्वयं का पाप प्रक्षालन करूँगा। कारण इसके अतिरिक्त सब प्रकार की वासनाओं के परित्यागी उन महात्मा की मैं क्या सेवा कर सकता हूँ?' इस प्रकार विचार करते हुए श्रेष्ठी को रात्रि का चतुर्थ याम भी द्वितीय याम लगने लगा। आखिर रात्रि प्रभात में परिणत हुई। श्रेष्ठी नवीन वस्त्रालंकारों से भूषित होकर विशेष-विशेष व्यक्तियों को साथ लिए आचार्य की कुटी की ओर अग्रसर हुए। कुटी पर्णपत्रों से अच्छादित थी। घास की दीवाले थीं। उसकी बनावट इस प्रकार थी जैसे कपड़े पर सूते का काम किया गया है। जिस भूमि पर वह कुटी बनी थी वह जीव रहित थी।

वहाँ उसने आचार्य धर्मघोष को देखा। देखकर उसे ऐसा लगा आचार्य ने पाप रूप समुद्र को प्रशमित कर लिया है। वे मोक्ष के मार्ग स्वरूप हैं, धर्म के स्तम्भ हैं, तेज के आश्रय और कषाय रूप गुल्म के लिए हिमरूप हैं, लक्ष्मी के कंठाभरण, संघ के अद्वैत भूषण, मुमुक्षुओं के लिए कल्पवृक्ष रूप, तपस्या के प्रत्यक्ष अवतार, मूर्तिमान आगम और तीर्थ परिचालनकारी तीर्थंकर स्वरूप हैं।

आचार्य के पास और भी अनेक मुनि अवस्थान कर रहे थे। उनमें कोई ध्यान में निरत था, किसी ने मौन धारण कर रखा था। कोई कायोत्सर्ग में अवस्थित था। कोई आगम का अध्ययन कर रहा था, कोई गुरु की सेवा कर रहा था, कोई धर्म कथा सुना रहा था। कोई अनुज्ञा दे रहा था, कोई तत्व समझा रहा था।

श्रेष्ठी ने पहले धर्मघोष आचार्य को एवं बाद में अन्यान्य मुनिवरों की वन्दना की। आचार्य ने 'जैन धर्म प्राप्त हो' कहकर श्रेष्ठी को आशीर्वाद दिया।

श्रेष्ठी आचार्य के चरण-कमलों के पास राजहंस की भाँति प्रसन्नतापूर्वक बैठ गया और बोला—'हे भगवन्, मैं आपको मेरे साथ ले जाऊँगा कहा था किन्तु, मेरा वह वाक्य शरतकाल के मेघाडम्बर की भाँति ही मिथ्या और आडम्बर मात्र ही था। कारण उस दिन से लेकर आज तक न तो मैंने आपकी दर्शन-वन्दना की और न ही अन्न-जल और वस्त्रदान से आपका सत्कार किया। जागकर भी मैं सोया था। मैंने आपकी अवज्ञा की है और अपना वचन भंग किया है। हे भगवन्! इस प्रमाद के लिए आप मुझे क्षमा करें।

सर्वदा सब कुछ सहन करते हैं इसीलिए महात्मागण पृथ्वी की भाँति सर्वसह होते हैं।'

प्रत्युत्तर में आचार्य बोले—'हे सार्थवाह, तुमने पथ में हिंस्र पशुओं से मेरी रक्षा की है। सर्वप्रकार से मेरा सम्मान किया है। तुम्हारे साथ जाने वाले लोगों ने ही हमें अन्न-जल दिया है। तभी तो हमें कोई असुविधा नहीं हो पायी। अतः तुम मन में बिल्कुल क्षोभ मत करो।'

श्रेष्ठी बोले—'सत्पुरुष तो सर्वत्र गुण ही देखते हैं। यही कारण है कि अपराधी होने पर भी आप मुझे इस प्रकार कह रहे हैं। किन्तु मैं आपके प्रमाद के लिए सचमुच ही अत्यंत लज्जित हूँ। अब आप प्रसन्न होकर मुनियों को मेरे यहाँ से भिक्षा लाने के लिए प्रेरित करिए। मैं आपको इच्छानुकूल अन्न-जल दूँगा।'

आचार्य बोले—'तुम तो जानते हो हम वही अन्न-जल ग्रहण करते हैं जो हमारे लिए न बनाया गया हो, न बनवाया गया हो और जो जीव रहित हो।'

'मैं ऐसा ही अन्न-जल मुनियों को दूँगा'—कहते हुए श्रेष्ठी आचार्य को प्रणाम कर स्व-आवास को लौट गए।

मुनिगण भिक्षा लेने श्रेष्ठी के आवास पर गए किन्तु देव वशतः श्रेष्ठी के आवास पर ऐसा कुछ नहीं मिला जिसे मुनिगण ग्रहण कर सकते। तब श्रेष्ठी इधर-उधर देखने लगे—सहसा उनकी दृष्टि उनके निर्मल अन्तःकरण की भाँति ताजे घी पर पड़ी।

श्रेष्ठी ने मुनियों से पूछा—'क्या यह घी आपके काम आ सकता है?'

मुनियों ने 'आ सकता है' कहते हुए भिक्षा पात्र श्रेष्ठी के सम्मुख रख दिया।

'मैं धन्य हुआ, कृतार्थ हुआ, कृत्यकृत्य हुआ' ऐसा चिन्तन करते-करते श्रेष्ठी का शरीर रोमांचित हो गया। उसने स्व-हाथों से वह घी मुनियों के पात्र में डाल दिया। तदुपरान्त साश्रु नेत्रों से उन्हें वन्दना की। मानो उसी आनन्दाश्रु से उन्होंने पुण्यरूप अंकुर-अंकुरित कर लिया। मुनियों ने भी समस्त कल्याण एवं सिद्धि के सिद्धिमंत्र स्वरूप 'धर्म प्राप्त हो' कहकर आशीर्वाद देते हुए अपने कुटीर को लौट गए। धनश्रेष्ठी ने मोक्ष रूप वृक्ष का दुर्लभ बीज व सम्यक्त्व रूप बीज को प्राप्त किया। सन्ध्या समय श्रेष्ठी पुनः मुनियों के निवास स्थान पर गए और आचार्य की वन्दना की। फिर उनकी अनुमति लेकर—करबद्ध बने उनके सामने बैठ गए। धर्मघोष सूरि ने श्रुत केवली की

भाँति मेघ मन्द्र आवाज में उन्हें कहा—'धर्म ही उत्कृष्ट मंगल है। धर्म ही स्वर्ग और मोक्ष प्रदान करता है एवं संसार अटवी को पार करने का पथ प्रदर्शित करता है। धर्म माता की भाँति पोषण करता है, पिता की भाँति रक्षा करता है, मित्र की भाँति प्रसन्न करता है, बन्धु की भाँति आनन्द देता है, गुरु की भाँति उज्ज्वल गुण से भूषित कर उच्च स्थान देता है और प्रभु की भाँति प्रतिष्ठित करता है। धर्म सुख का प्रासाद है, शत्रु व्यूह के लिए कवच तुल्य है, शीतोत्पन्न जड़ता को विनष्ट करने में आतप तुल्य होने के साथ ही पाप के मर्म का ज्ञाता है। धर्म प्रभाव से जीव राजा होता है, बलदेव होता है, वासुदेव होता है, चक्रवर्ती होता है, देवता होता है, इन्द्र होता है, ग्रैवेयक होता है और अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र होता है। इतना ही नहीं धर्म के ही प्रभाव से तीर्थंकर भी होता है। ऐसा क्या है जो धर्म के प्रभाव से प्राप्त नहीं किया जा सकता ?

दुर्गति में पतित जीव को जो धारण करता है उसी का नाम धर्म है। धर्म चार प्रकार का होता है : दान, शील, तप और भावना।

दान तीन प्रकार का होता है। यथा—ज्ञान दान, अभयदान और धर्मोपग्रह दान।

जो धर्म नहीं जानता, उन्हें उपदेश देना, ज्ञानार्जन के साधन जुटा देना ज्ञानदान है। ज्ञानदान से जीव अपने हित-अहित को समझता है। हिताहित को जानकर जीवादि तत्त्व को अवगत कर विरति या वैराग्य को प्राप्त करता है। ज्ञानदान से जीव उज्ज्वल केवलज्ञान प्राप्त कर समस्तलोक का कल्याण साधन कर लोकाग्रावस्थित सिद्धशिला पर आरूढ़ होता है अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता है।

अभयदान का अर्थ है मन वचन काया से जीव हिंसा नहीं करना, करवाना एवं कोई करे तो उसका अनुमोदन नहीं करना।

जीव दो प्रकार के हैं : स्थावर और त्रस। इनके भी दो भेद हैं : पर्याप्त और अपर्याप्त।

पर्याप्त भी छः प्रकार के होते हैं : आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वास-प्रश्वास, भाषा और मन।

एकेन्द्रिय जीव के प्रथम चार पर्याप्तियाँ होती हैं। बेइन्द्रिय से चउरिन्द्रिय तक जीवों की भी प्रथम चार पर्याप्तियाँ होती हैं।

एकेन्द्रिय स्थावर जीव पाँच प्रकार के होते हैं : पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय। इनमें प्रथम चार के सूक्ष्म और बादर दो

भेद हैं। वनस्पतिकाय के भी दो भेद हैं : प्रत्येक और साधारण। साधारण वनस्पति के फिर दो भेद हैं : सूक्ष्म और बादर।

त्रस जीव के चार भेद होते हैं। बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय।

पंचेन्द्रिय जीव दो प्रकार के होते हैं : संज्ञी व असंज्ञी।

जो मन और प्राण को प्रवृत कर शिक्षा, उपदेश और वाक्य के तात्पर्य को ग्रहण कर सकते हैं वे संज्ञी हैं, जो इसके विपरीत हैं वे असंज्ञी हैं।

इन्द्रियाँ पाँच हैं : त्वचा (स्पर्श), रसना (जिह्वा), नासिका (घ्राण), चक्षु (आँखें), श्रोत्र (कान)।

त्वचा या स्पर्शेन्द्रिय का कार्य है स्पर्श करना, रसना का कार्य है स्वाद ग्रहण करना, नासिका का कार्य है सँघना अर्थात् आघ्राण लेना, चक्षु का कार्य है देखना और श्रोत्र का कार्य है सुनना।

कीट, शंख, केचुआ, जोंक, कपार्दिका, सुतुही नामक जल-जीव आदि बेइन्द्रिय हैं।

उकून, खटमल, चींटी आदि तेइन्द्रिय जीव है।

पतंगा, मच्छर, भौंरा, मक्खी आदि चउरिन्द्रिय जीव है।

जलचर (मछली, मगर आदि), स्थलचर (गाय, भैंसादि पशु), खेचर (कबूतर, तीतर, कौवा आदि पक्षी), नारक (नरक में उत्पन्न जीव), देव (स्वर्ग में उत्पन्न जीव) और मनुष्य पंचेन्द्रिय जीव हैं।

उपरोक्त जीवों की हत्या करना, शारीरिक और मानसिक क्लेश देना हिंसा है। हत्या नहीं करना अभयदान है। जो अभयदान देता है वह चार पुरुषार्थ (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) दान देता है। कारण जीवित प्राणी पुरुषार्थ प्राप्त कर सकता है। जीव मात्र को राज्य, साम्राज्य यहाँ तक कि स्वर्ग की अपेक्षा भी अपना जीवन अधिक प्रिय होता है। इसीलिए कीचड़ का कीट और स्वर्ग का इन्द्र दोनों को ही प्राण-हानि का भय एक-सा ही होता है। अतः सत्पुरुषों को सदैव सतर्क होकर अभयदान की इच्छा रखनी चाहिए। अभयदान देने से मनुष्य आगामी जन्म में मनोहर देह, दीर्घ आयु, स्वास्थ्य, कान्ति, श्री और शक्ति प्राप्त करता है।

धर्मोपग्रह दान पाँच प्रकार का होता है : दाता (जो दान देता है) शुद्ध हो, ग्राहक (जो दान ग्रहण करता है) शुद्ध हो, देयवस्तु (जो दान दी जाती है) शुद्ध हो, काल (दान देने का समय) शुद्ध हो, भाव (दान देने के समय का मनोभाव) शुद्ध हो।

वही दाता शुद्ध होता है जिसका धन न्यायोपार्जित है, जिसकी बुद्धि उत्तम है, जो किसी प्रत्याशा से दान नहीं देता, जो ज्ञानी है (क्यों दान दे रहा है यह जो जानता है) और देने के पश्चात् जो पश्चाताप नहीं करता। जो मन में सोचता है : मैं ऐसा चित्त (जिसमें दान देने की इच्छा उत्पन्न हुई है), ऐसा वित्त (न्यायोपार्जित धन), ऐसा पात्र (दान ग्रहण करने वाला भी शुद्ध है) पाकर धन्य हो गया हूँ।

दान ग्रहण करने वाला वही शुद्ध है जो पाप रहित है, तीन गौरव (स्वाद लोलुपता, ऐश्वर्य लोलुपता और सुख लोलुपता) रहित है, तीन गुप्तियों (संयमित मन, संयमित वचन और संयमित काया) का धारक है, पाँच समितियों (जो चलने-फिरने, बोलने एवं आहार लेने के समय तथा किसी वस्तु को उठाने एवं रखने के समय और शौचादि के समय जीव हत्या से सावधान रहता है) का पालन करने वाला है। वह राग-द्वेष से रहित होता है, नगर, ग्राम, स्थान, उपकरण और शरीर से ममत्व नहीं रखता है, अठारह हजार शीलांगों को धारण करने वाला और रत्न त्रय (सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र) का अधिकारी होता है। वह धीर होता है, लोहा और सोना को समदृष्टि से देखता है, धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान में निरत रहता है, जितेन्द्रिय और कुक्षि सम्बल (आवश्यकतानुसार भोजनकारी) होता है। वह निरन्तर छोटी-बड़ी तपस्या में निरत रहता है, सत्रह प्रकार के संयम का अखण्ड रूप से पालन करता है, अठारह प्रकार के ब्रह्मचर्य का व्रती होता है। ऐसे शुद्ध दान ग्रहणकारी को दान देना 'ग्राहक शुद्ध दान या सुपात्र दान' कहलाता है।

दी जानेवाली शुद्ध वस्तु भी बयालीस प्रकार की होती है—दोष रहित असन (पूड़ी, मिठाई आदि), पान (जल, दूध, रस आदि) खादिम (फल, बादाम, किसमिस आदि), स्वादिम (लौंग, सुपारी, इलायची आदि), वस्त्र और संथारा (पहनने के कपड़े तथा बिछाने के कम्बल आदि)। इन वस्तुओं के दान को शुद्ध दान बोला जाता है।

योग्य समय पर पात्र को दान देना पात्रशुद्ध दान और कामना रहित दान देना भावशुद्ध दान कहलाता है।

शरीर के बिना धर्म की आराधना नहीं की जा सकती और अन्न के बिना देह धारण करना सम्भव नहीं है। इसीलिए धर्मोपग्रह ('जिससे धर्म साधना में सहायता मिलती है) दान देना उचित है। जो व्यक्ति अशन पानादि धर्मोपग्रह

सुपात्र को दान करते हैं वे तीर्थ को स्थिर करने में सहायक बनते हैं और स्वयं भी परमपद को प्राप्त करते हैं।

जिस प्रवृति के वश होकर प्राणी हत्या की जाती है उस प्रवृत्ति को नहीं करना शील कहलाता है। शील के भी दो भेद हैं—देश विरति और सर्व विरति।

देश विरति बारह प्रकार की होती है। पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत।

स्थूल अहिंसा, स्थूल सत्य, स्थूल अस्तेय (अचौर्य), स्थूल ब्रह्मचर्य और स्थूल अपरिग्रह ये पाँच अणुव्रत हैं। दिकविरति, भोगोपभोग विरति और अनर्थदण्ड विरति तीन गुणव्रत हैं। सामायिक, देशावकासिक, पौषध और अतिथि संविभाग चार शिक्षाव्रत हैं।

इसी प्रकार के देश विरति गुणयुक्त शुश्रूषु (जिनकी धर्म सुनने की इच्छा रहती है), यति (साधु), धर्म अनुरागी, धर्मपथ्य भोजी (ऐसा भोजन करने वाला जिससे धर्माचरण करना सम्भव हो), शम (निर्विकार शान्ति), संवेग (वैराग्य), निर्वेद (निस्पृस्ता), अनुकम्पा (दया) और आस्तिक्य (श्रद्धा) बुद्धि सम्पन्न, सम्यक् दृष्टि, अज्ञान और सर्वप्रकार से क्रोध रहित गृहस्थ चारित्र मोहनीय कर्म को नाश करने में सक्षम होता है।

त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा से सर्वथा दूर रहने को सर्व विरति कहा जाता है। यह सर्व विरति रूप शील को प्राप्त करते हैं।

जो कर्म को तापित और विनष्ट करता है उसे तप कहते हैं। तप के दो भेद हैं : बाह्य और आभ्यंतर। अनशनादि बाह्य तप है एवं प्रायश्चितादि आभ्यंतर तप हैं।

बाह्य तप के छः भेद हैं : अनशन (उपवास, इकाशना, आयंबिल आदि), वृति संक्षेप (आवश्यकताएँ कम करना), रस त्याग (छः रसों में से प्रतिदिन एक रस का त्याग), कायक्लेश (केशोत्पाटन आदि शारीरिक दुःख), संलीनता (मन और इन्द्रियों को वश में रखना)।

आभ्यंतर तप के भी छः भेद हैं : प्रायश्चित (कृत अतिचार एवं नियम उल्लंघन के लिए आलोचना और आवश्यक तप), वैयावृत्त (त्यागी एवं धर्मात्माओं की सेवा करना), स्वाध्याय (धर्मशास्त्रों का पठन, श्रवण, मनन), विनय (नम्रता), कायोत्सर्ग (शारीरिक समस्तकर्मों का परित्याग) और शुभ ध्यान (धर्म और शुक्ल ध्यान में चित्त नियोग)।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप तीन रत्नों को धारण करने वाले की भक्ति करना, उनका कार्य करना, शुभ विचार और संसार के असारत्व का चिन्तन करना भावना कहलाता है।

यह चतुर्विध (दान, शील, तप, भावना) धर्म मोक्षफल प्राप्ति के साधन हैं। अतः संसार भ्रमण से भयभीत व्यक्ति को सावधान होकर इनकी साधना करना उचित है।'

धर्मोपदेश सुनकर धन श्रेष्ठी बोले—'ऐसी धर्म कथा तो मैंने कभी नहीं सुनी। इसीलिए इतने दिनों तक मैं मेरे कर्मों के द्वारा प्रवंचित हुआ हूँ।' फिर वे उठ आचार्य एवं अन्य मुनियों की वन्दना कर स्वयं को धन्य सोचते हुए अपने आवास स्थान को लौट गए। धर्म श्रवण के आनन्द में श्रेष्ठी की वह रात्रि एक मुहूर्त्त की भाँति व्यतीत हो गई।

सुबह जब वे शय्या त्याग कर उठे तो भाटों के शंख की भाँति उदात्त और मधुर स्वर सुनायी पड़ा—

'घने अन्धकार से मलिन पद्मिनी की शोभा को हरन करने वाली तथा मनुष्य व्यवहार को निरुद्ध करने वाली रात्रि वर्षाऋतु की भाँति व्यतीत हो जाती है। तेजस्वी और प्रचण्ड रश्मिरथी सूर्य उदित हो गया है। काम काज का सुहृद् प्रभातकाल शरद् ऋतु की भाँति उपस्थित हो गया है। तत्वबोध से बुद्धिमान व्यक्ति का हृदय जिस प्रकार निर्मल हो जाता है उसी प्रकार शरद के आविर्भाव से सरोवर और सरिता का जल निर्मल हो गया है। आचार्यों के उपदेश से ग्रन्थ जिस प्रकार संशय रहित और सरल हो जाता है सूर्य किरण से शुष्क और कर्दमरहित पथ उसी प्रकार सरल हो गया है। पथ के मध्य से जिस प्रकार गाड़ियों का समूह चलता है नदी भी उसी प्रकार तट की मध्यवर्त्ती होकर धीरे-धीरे प्रवाहित होती है। पथ के दोनों ओर शष्य क्षेत्र में उत्पन्न श्यामक, नीवार, बालुंक, कुवलय आदि शष्य और फल भार से पथ जैसे पथिकों के अतिथि सत्कार को प्रवृत्त हो गया है। शरतकाल के समीर से आन्दोलित इक्षुवृक्षों के शब्द जैसे पुकार-पुकार कर कह रहे हैं—हे पथिकगण तुमलोग अपने-अपने यान और वाहनों पर आरोहण करो। पथ पर चलने का समय हो गया है। मेघ अब सूर्य किरणों से तप्त पथिकों के लिए मात्र छत्र का कार्य कर रहे हैं। सार्थ के वृषभगण अपने कुम्भ से भूमि को समतल कर रहे हैं ताकि पथ चलते पथिकों को कोई कष्ट न हो। पहले पथ पर जो जल वेग से गर्जन करता-करता प्रवाहित हो रहा था अब वर्षा ऋतु के मेघ की भाँति वह भी अदृश्य हो गया है। फलों के भार से अवनत

लता और पद-पद पर प्रवाहित निर्मल जल के झरने से बिना परिश्रम के ही पथिकों के लिए पथ पाथेय से पूर्ण हो उठे हैं। उत्साही और उद्यमी व्यक्तिगण राजहंस की भाँति दूर देश जाने के लिए तत्पर हो गए हैं।'

श्रेष्ठी भाट के मुख से इस मंगल पाठ को सुनकर समझ गए कि ये लोग यह सूचना दे रहे हैं कि यात्रा का समय हो गया है। उन्होंने उसी समय यात्रा का भेरी निनाद का आदेश दिया। उस भेरी नाद से अकाश और पृथ्वी के मध्यवर्ती का अन्तरीक्ष भर उठा। गोपों की शृंगध्वनि सुनकर जैसे गायों का समूह चलना प्रारम्भ कर देता है वह सार्थ भी उसी प्रकार भेरी की ध्वनि सुनकर चलने लगा।

जैसे सूर्य किरण जाल से आवेष्ठित होकर चलता है वैसे ही भव्य जीव रूपी कमल को बोध देने में प्रवीण धर्मघोष आचार्य भी मुनिवरों द्वारा परिवृत होकर चलने लगे। सार्थ की रक्षा के लिए सामने पीछे दाएँ-बाएँ रक्षक नियुक्त कर श्रेष्ठी भी चलने लगे। सार्थ जब उस महारण्य को अतिक्रम कर गया तब आचार्य श्रेष्ठी की अनुमति लेकर अन्य दिशा की ओर विहार कर गए।

नदी समूह जिस प्रकार समुद्र में गमन करता है वैसे ही धन श्रेष्ठी भी समस्त पथ सकुशल अतिक्रम कर बसन्तपुर नगर में उपस्थित हुए। वहाँ कुछ काल अवस्थान कर लाया हुआ पण्य विक्रय किया एवं नया पण्य क्रय किया। फिर मेघ जैसे समुद्र से जलपूर्ण होते हैं उसी प्रकार श्रेष्ठी भी धन ऐश्वर्य से परिपूर्ण होकर वहाँ से प्रत्यावर्तन कर क्षिति प्रतिष्ठित पुर में लौट आए। इसके कई वर्षों पश्चात् आयु शेष होने पर उनकी मृत्यु हो गयी।

[क्रमशः

जैन दर्शन में कर्मवाद [२]

हरिसत्य भट्टाचार्य

[पूर्वानुवृत्ति]

तेरहवाँ वर्णकर्म—इसके उदय से शरीर का वर्ण निर्धारित होता है। वर्णकर्म पाँच प्रकार का है—

(१११) शुक्लवर्ण कर्म—जिसके उदय से शरीर शुक्ल वर्ण होता है।

(११२) कृष्णवर्ण कर्म—जिसके उदय से शरीर श्यामवर्ण होता है।

(११३) नीलवर्ण कर्म—जिसके उदय से शरीर नीलवर्ण होता है।

(११४) रक्तवर्ण कर्म—जिसके उदय से शरीर का वर्ण लाल होता है।

(११५) पीतवर्ण कर्म—जिसके उदय से शरीर पीत वर्ण वाला होता है।

चौदहवाँ आनुपूर्वी कर्म—एक भव या एक गति में से भवान्तर या गत्यन्तर के समय (विग्रह गति काल में) इस आनुपूर्वी कर्म के अनुसार[१] जीव जिस देह को छोड़ता है उसी पूर्व देह के आकार को ग्रहण करता है।

(११६) देवगत्यानुपूर्वी कर्म।

(११७) नरक गत्यानुपूर्वी कर्म।

(११८) तिर्यग्गत्यानुपूर्वी कर्म।

(११९) मानुषगत्यानुपूर्वी कर्म।

(१२०) पन्द्रहवाँ अगुरु लघु कर्म—इस कर्म के कारण जीव का शरीर इतना अधिक भारी भी नहीं होता कि जिससे वह चलने-फिरने योग्य न रहे और इतना अधिक हलका भी नहीं होता कि जिससे वह अस्थिर रहे।

(१२१) सोलहवाँ उपघात कर्म—इसके कारण जीव के शरीर में ऐसे अंग उत्पन्न होते हैं कि जिनसे उसका अपना ही घात होता है। यथा मृग शरीर के लम्बे और खूब भारी सींग इत्यादि।

(१२२) सतरहवाँ पराघात कर्म[७]—इस कर्म के कारण जीव ऐसे अंग प्रत्यंग प्राप्त करता है कि जिनसे वह दूसरों पर आक्रमण कर सकता है।

---

[१] आनुपूर्वी नाम कर्म—इस कर्म से भवान्तर में जाते हुए आकाश प्रदेश की श्रेणी का अनुसरण करके गति होती है।

[७] पराघात नाम कर्म—इस कर्म से महान् तेजस्वी आत्मा अपने दर्शन मात्र से और वाणी के अतिशय से महाराजाओं की सभा के सभ्यों को भी चकित कर देता है, अपने प्रतिस्पर्द्धी की प्रतिभा को कुण्ठित कर देता है।

(१२३) अठारहवाँ आताप कर्म[८]—इससे जीव को ऐसा उज्ज्वल शरीर प्राप्त होता है कि दूसरे उसे देखते ही चौंधिया जाते हैं। यथा सूर्यलोक में ऐसे ही शरीरधारी जीव रहते हैं।

(१२४) उन्नीसवाँ उद्योतकर्म[९]—इसके कारण जीव को ऐसा उज्ज्वल शरीर प्राप्त होता है कि जो समुज्ज्वल होने पर भी दूसरों को शीत प्रकाश रूप ही मालूम होता है। उदाहरणार्थ चन्द्रलोक में ऐसे ही शरीरधारी जीव रहते हैं।

(१२५) बीसवाँ उच्छ्वासकर्म—यह कर्म जीव की निःश्वास-प्रश्वास-क्रिया का नियमन करता है।

इक्कीसवाँ विहायोगति कर्म[१०]—यह कर्म जीव को आकाश में उड़ने की गति देता है। इसके दो प्रकार हैं—

(१२६) शुभ विहायोगति—इससे सुन्दर गति होती है।

(१२७) अशुभ विहायोगति—इससे बेढब गति होती है।

(१२८) बाईसवाँ प्रत्येक शरीर कर्म—इस कर्म के कारण जो शरीर मिलता है उसे केवल एक ही जीव भोगता है।

(१२९) तेइसवाँ साधारण शरीर कर्म—इस कर्म के कारण जो शरीर प्राप्त होता है उसमें एक साथ कई जीव रह सकते हैं।

(१३०) चौबीसवाँ त्रस कर्म—इस कर्म से दो इन्द्री, तीन इन्द्री, चार इन्द्री और पाँच इन्द्रियोंवाला शरीर प्राप्त होता है।

(१३१) पच्चीसवाँ स्थावर कर्म—इसके कारण एकेन्द्रिय शरीर प्राप्त होता है।

(१३२) छब्बीसवां सुभग कर्म[११]—इसके कारण सर्वप्रिय, सर्व के स्नेह के योग्य शरीर प्राप्त होता है।

---

[८] आताप नाम कर्म—इस कर्म से प्राणियों का शरीर शीतल होने पर भी उष्ण प्रकाश रूप ताप उत्पन्न करने की शक्ति वाला होता है। यह कर्म सूर्य बिम्ब में स्थित एकेन्द्रिय जीवों का ही होता है।

[९] उद्योत नाम कर्म—इस कर्म से जीवों का शरीर शीतप्रकाश रूप उद्योत करता है।

[१०] विहायोगति नामकर्म—इस कर्म से हंस और हाथी के समान सुन्दर तथा काक एवं गर्दभ के समान अशुभ गति (चाल) प्राप्त होती है।

[११] सौभाग्य नाम कर्म—इस कर्म से सर्वजनप्रियता प्राप्त होती है।

(१३३) सत्ताइसवाँ दुर्भग कर्म[12]—सुभग कर्म के विपरीत।

(१३४) अट्ठाइसवाँ सुस्वरकर्म—इससे सुन्दर स्वर प्राप्त होता है।

(१३५) उन्तीसवाँ दुःस्वरकर्म—सुस्वर के विपरीत।

(१३६) तीसवाँ शुभकर्म—इससे सुन्दर देह मिलती है।

(१३७) इक्तीसवाँ अशुभकर्म—शुभ कर्म के विपरीत।

(१३८) बत्तीसवाँ सूक्ष्मकर्म—सूक्ष्म अबाध्य शरीर मिलता है।

(१३९) तेंतीसवाँ बादर कर्म—स्थूल देह उत्पन्न होती है।

(१४०) चौतीसवाँ पर्याप्ति कर्म-जीव जिस देह को प्राप्त करे वह उसके लिए उपयोगी पर्याप्ति प्राप्त करे। जैनाचार्यों ने छः पर्याप्ति मानी है—(१) आहार पर्याप्ति, (२) शरीर पर्याप्ति, (३) इन्द्रिय पर्याप्ति, (४) प्राणापान-पर्याप्ति, (५) भाषा पर्याप्ति और (६) मनः पर्याप्ति। पहली शरीर-पोषण के लिए आहार द्रव्य ग्रहण करने में उपयोगी है। दूसरी शरीर का पोषण करने में। तीसरी इन्द्रियादि का पोषण करने में। चौथी श्वासोच्छ्वास में, पाँचवीं बोलने में और छठी संकल्पादि में उपयोगी है। एकेन्द्रिय जीव प्रथम चार प्रकार की पर्याप्ति के अधिकारी हो सकते हैं। दो इन्द्री, तीन इन्द्री, चार इन्द्री और मन रहित-अमनस्क ५ इन्द्रियों वाले जीव पहली ५ पर्याप्ति के अधिकारी होते हैं। संज्ञी—मनवाला पंचेन्द्रिय प्राणी छओं छः पर्याप्ति का अधिकारी होता है।

(१४१) पैंतीसवां अपर्याप्ति कर्म—इस कर्म के कारण [स्वयोग्य] पर्याप्ति मिले बिना ही देह मृत्यु के मुख में चला जाता है।

(१४२) छत्तीसवां स्थिर कर्म[13]—इसके कारण शरीर की धातु, उपधातुएं नियमित रहती हैं। जैन मंतव्य के अनुसार धातु सात हैं: रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र। उपधातुएं भी इतनी ही हैं: वात, पित्त, कफ, शिरा, स्नायु, त्वचा और उदराग्नि।

(१४३) सैंतीसवां अस्थिर कर्म[14]—स्थिर कर्म से विपरीत कार्य करता है।

(१४४) अड़तीसवां आदेय कर्म[15]—देह में उज्ज्वलता लाता है।

---

[12] *दुर्भाग्य नाम कर्म—इस कर्म से सर्वजन-अप्रियता प्राप्त होती है*

[13] *स्थिर नामकर्म—इस कर्म से हड्डियाँ, दांत आदि स्थिर रहते हैं।*

[14] अस्थिर नामकर्म—इस कर्म से जीभ कान आदि अस्थिर रहते हैं।

[15] आदेय नामकर्म—इस कर्म से लोकमान्यता प्राप्त होती है

(१४५) उनतालीसवां अनादेय कर्म[१६]—आदेय से विपरीत।

(१४६) चालीसवाँ यशःकीर्ति कर्म[१७]—ऐसा शरीर उत्पन्न करता है कि जिससे यश और कीर्ति मिले।

(१४७) इकतालीसवां अयशः कीर्ति कर्म[१८]—यशः कीर्ति कर्म से उल्टा।

(१४८) बयालीसवां तीर्थंकर कर्म—इससे तीर्थंकरत्व प्राप्त होता है।

कर्म के दो भेद : घाती और अघाती। घाती कर्म में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चार का समावेश होता है। मतिज्ञानावरणीय आदि अवान्तर भेदों की गणना करने से ४७ भेद होते हैं। अघाती के भी चार भेद हैं : वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुष्य। सात वेदनीय आदि भेदों के हिसाब से अघाती कर्म के १०१ भेद हैं। सारांशतः कर्म के प्रकार, प्रकृति अथवा भेद सब मिलकर १४८ प्रकार हो जाते हैं।

[क्रमशः

---

[१६] अनादेय नामकर्म—इस कर्म से लोकमान्य नहीं बना जा सकता।

[१७] यशःकीर्ति—इस कर्म से सब ओर यश और कीर्ति फैलती है।

[१८] अयशः कीर्ति—इस कर्म से अपयश और अपकीर्ति होती है।

जैन शास्त्र में नारी का स्थान

पूरणचंद सामसुखा

जैन शास्त्रों में नारी का स्थान क्या है, इसका सम्यक् निरूपण करने में जितनी गम्भीर गवेषणा की आवश्यकता है, उतनी समयाभाव से हो न सकी तथापि इस विषय पर कुछ लिख रहा हूँ।

जैन धर्म का चरम ध्येय मोक्ष है। जैन धर्मानुयायियों का चरम उद्देश्य यही है कि कर्म पुद्गल का सम्पूर्ण क्षय कर मुक्त होना—उनका जीवन इसी ध्येय को लक्ष करके प्रवाहित होता है। इस ध्येय की प्राप्ति एकमात्र मनुष्य जीवन में ही हो सकती है एवं इसी कारण से मनुष्य को सर्व प्राणियों में श्रेष्ठ गिना गया है। देव योनि में सामर्थ्य, समृद्धि, भोग आदि मनुष्यों से अधिक है, परन्तु मानसिक व आत्मिक उन्नति मनुष्यों में ही चरम विकास को प्राप्त हो सकती है।

मनुष्य में प्रधानतया नर व नारी दो विभाग हैं। सांसारिक जीवन में नर व नारी सम्मिलित होकर जीवन संग्राम में अवतीर्ण होते हैं और पारस्परिक सहयोगिता से जीवन को सुखमय बनाने की चेष्टा करते हैं। पुरुष में पराक्रम, वीर्य, तेजस्विता का प्राधान्य रहता है व नारी में दया, धैर्य, दाक्षिण्य, वात्सल्यादि गुणों का प्राधान्य है। कठोर व कोमल वृत्तियों के सम्मेलन व सहयोग से सांसारिक जीवन का क्रमविकास होता है। परन्तु आध्यात्मिक उन्नति के क्षेत्र में नर व नारी को इस सम्मेलन की आवश्यकता नहीं है। वहाँ तो प्रत्येक मनुष्य को, चाहे वह पुरुष हो या नारी, अपने-अपने वीर्य से ही आत्मिक उन्नति के पथ पर अग्रसर होना होगा। कर्म पुद्गल को दूर करने के लिये जिस आत्मिक शक्ति के स्फुरण की आवश्यकता होती है उसमें नर व नारी का सम्मिलन साधारणतः अनुकूल नहीं होकर प्रतिकूल ही होता है। इसी कारण से आध्यात्मिक क्षेत्र में अग्रसर होने वाले नर या नारी को पारस्परिक सहायता की आवश्यकता नहीं है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में अग्रसर होते हुए पुरुष जैसे चरम उत्कर्षता को प्राप्त कर सकते हैं, जैन शास्त्र में स्त्री को भी उसी तरह चरम उत्कर्षता प्राप्त करने का अधिकार स्वीकार किया गया है। ज्ञान, चारित्र, तप एवं वीर्य के अपूर्व स्फुरण से जैसे पुरुष कर्ममल को दूर करके सम्पूर्ण निर्मल हो सकते हैं, स्त्रियाँ भी उसी तरह निर्मल दशा को प्राप्त कर सकती हैं।

जैन शास्त्रों में तीर्थंकरत्व ही आत्मिक उन्नति का चरम विकास समझा गया है। वर्तमान अवसर्पिणी में चौबीस तीर्थंकरों में उन्नीसवें तीर्थंकर भगवान मल्लिनाथ स्त्री ही थे। स्त्री रूप से जन्म ग्रहण करने पर भी कर्म

मल को सर्वथा दूर करके आत्मस्वभाव के पूर्ण विकास करने की शक्ति अन्यान्य तीर्थंकरों के अनुरूप उनमें भी सम्पूर्ण रूप से थी। सर्वज्ञता प्राप्त करने के बाद चतुर्विध संघ रूप तीर्थ का स्थापन अन्यान्य तीर्थंकरों की तरह उन्होंने भी किया था और उनके शासन के नीचे पुरुष गणधर व साधु भी आत्मिक विकास के रास्ते से अग्रसर होते थे। स्त्री तीर्थंकर के शासनाधीन रहने में उन्हें जरा सी भी आपत्ति नहीं थी और संघ का कार्य अन्यान्य तीर्थंकरों के समय में जैसे निर्वाह होता था, वैसे ही इनके समय में भी होता था। यहाँ पुरुषवेद व स्त्रीवेद में कोई पार्थक्य स्वीकार नहीं किया गया है—कारण उस अवस्था में पुरुष-स्त्री दोनों ही निर्वेदी दशा को प्राप्त होते हैं।

प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की माता मरुदेवी इस अवसर्पिणी में भरतक्षेत्र से मुक्ति जाने वालों में प्रथम स्थान रखती हैं। इस अवसर्पिणी में इस क्षेत्र से मुक्ति का रास्ता एक स्त्री ने ही खोला था, यह मातृ जाति के लिये बहुत ही गौरव का विषय है। जैन शास्त्रों ने इस विषय का वर्णन करते समय आत्मिक चरम उत्कर्षता लाभ करने में स्त्रियों की भी उतनी ही शक्ति दर्शायी है जितनी कि पुरुषों की।

राजीमती ने, भगवान नेमिनाथ के विवाह मण्डप को छोड़कर प्रत्यागमन करने के बाद, सांसारिक सुखों को तिलांजलि देकर संयम ग्रहण किया और कठोर तपस्या करने लगी। इनके असाधारण शारीरिक सौन्दर्य से मुग्ध होकर संयम से भ्रष्ट होते हुए रथनेमि मुनि को राजीमती ने अपने संयम व तपस्या के बल से प्रतिबोध देकर संयम में पुनः स्थापित किया। इस समय राजीमती ने जिस असामान्य संयम और चरित्र की दृढ़ता का प्रदर्शन किया था उसकी तुलना कम ही मिलती है।

भगवान महावीर की शिष्या और उनके सम्पूर्ण साध्वी संघ की प्रमुख आर्या चन्दनबाला का नाम जैन जगत में प्रसिद्ध है। चन्दनबाला व उनकी शिष्या मृगावती घोर तपस्या से कर्ममल को दूर कर कैवल्य व निर्वाण को प्राप्त हुई थीं। भगवान महावीर की पूर्व माता देवानन्दा ब्राह्मणी ने भी अपने पति ऋषभदत्त के साथ दीक्षा ग्रहण कर मोक्ष प्राप्त किया था। ऐसे और भी कई दृष्टान्त दिये जा सकते हैं, जब कि साध्वियां आत्मिक चरम उत्कर्षता—केवलज्ञान व मोक्ष को प्राप्त हुई हैं।

स्त्री शिक्षा के विषय में भी जैन शास्त्रका अवलोकन करने से प्रतीत होता है कि उस समय स्त्रियों को अच्छी शिक्षा दी जाती थी। साध्वियां एकादश अंग शास्त्रों का अभ्यास करती थीं। एकादश अंगों के ज्ञान को धारण

करने वाली साध्वियों की संख्या भी कम न थी। पुरुषों को जैसे ७२ कलाओं का अभ्यास कराया जाता था, वैसे ही स्त्रियों को भी ६४ कलाओं का अभ्यास कराया जाता था। इन ६४ कलाओं में नृत्य, गीत, ज्ञान, विज्ञान, काव्य, व्याकरण, गृहिणीधर्म, पाक क्रिया, केश बन्धन, आभूषण धारण, वाणिज्य प्रभृति का नाम विशेष उल्लेखयोग्य है। स्त्री शिक्षा में कोई तरह की त्रुटि नहीं थी, यह साफ मालूम पड़ता है।

दिग्विजयी ब्राह्मण पण्डित हरिभद्र को जैन धर्म में प्रतिबोधित करने का श्रेय "याकिनी महत्तरा" नाम की एक साध्वी को ही है। जैन धर्म अंगीकार करने के बाद पण्डित हरिभद्र अपने पाण्डित्य एवं चारित्र गुण से आचार्य हरिभद्र सूरि नाम से विख्यात हुए। उन साध्वी का आप पर इतना प्रभाव था कि आपने अपने अमूल्य ग्रन्थों में अपना परिचय "याकिनी सुनु" नाम से दिया है। इतने बड़े विद्वान आचार्य पर एक साध्वी का ऐसा प्रभाव होना उन साध्वी स्त्री के चारित्र एवं आत्मिक उन्नति की उत्कर्षता का परिचय प्रदान कर रहा है। उस काल में एक साध्वी इतने बड़े अन्य मत के पण्डित को भी प्रतिबोध देने में समर्थ थीं, यह बात साध्वियों में ज्ञानानुशीलन की कितनी उत्कर्षता थी, यह साबित करती है।

परदे की आज जैसी कठोरता प्रचलित है उस काल में वैसी नहीं थी। तीर्थंकरों के समोवसरण में या धर्माचार्यों को वन्दन करने को स्त्रियां बिना किसी रुकावट के जाती थीं ऐसी बहुत घटनाओं का वर्णन जैन साहित्य में मिलता है। राजा की रानियां किसी प्रयोजन से सभा मण्डप में उपस्थित होने पर यवनिका के अन्तराल में उपवेशन करती थीं। स्वप्नों का फल श्रवण करने को भगवान महावीर की माता त्रिशला राजसभा में यवनिका के अन्तराल में बैठी थीं। महाराज श्रेणिक की रानी धारिणी देवी भी राजसभा में यवनिका के अन्तराल में बैठी थीं, परन्तु दोहद पूर्त्ति के समय श्रेणिक राजा के साथ हाथी पर चढ़कर नगर के बीच से होकर जाने का वर्णन भी मिलता है। इससे यह प्रतीत होता है कि परदे की कड़ाई बिल्कुल नहीं थी, परन्तु साधारण तथा राज परिवार व उच्चकुल की स्त्रियां अन्तःपुर में ही प्रायः करके रहती थीं। अधुना जैसी प्रचण्ड स्त्री स्वाधीनता पाश्चात्य देशों से आमदनी होकर अपने देश में प्रचलित होनी आरम्भ हुई है, वैसी पुराने जमाने में नहीं थी। पर स्त्री की मानसिक व आत्मिक विकास करने में कोई रुकावट नहीं थी और पारिपार्श्विक वातावरण भी ऐसा था कि प्रत्येक स्त्री स्वच्छन्दता से अपनी उन्नति कर सकती थी।

जैन पत्र-पत्रिकाएँ : कहाँ/क्या

अनेकान्त ॥ अप्रैल-सितम्बर १९८१

इस अंक में है 'सम्यक्त्व कौमुदी नामक रचनाएँ' (डा० ज्योति प्रसाद जैन), 'पर्यूषण और दशलक्षण धर्म' (पद्मचन्द्र शास्त्री), 'जैन साहित्य में विन्ध्य अंचल' (डा० विद्याधर जोहरा पुरकर), 'जैन धर्म के पाँच अणुव्रत' (विनोद कुमार तिवारी), 'बुन्देलखण्ड का जैन इतिहास' (अख्तर हुसैन निजामी), 'जैन और बौद्ध प्रथमानुयोग' (डा० विद्याधर जोहरा पुरकर), 'जैनधर्म के पाँच अणुव्रत' (श्री विनोद कुमार तिवारी), 'बुन्देल खण्ड का जैन इतिहास' (अख्तर हुसैन निजामी), 'जैन और बौद्ध प्रथमानुयोग' (डा० विद्याधर जोहरा पुरकर), 'अवग्रहेहावायधारणाः' (डा० नन्दलाल जैन), 'णमोकार मन्त्र' (श्री बाबूलाल जैन), 'मध्वदर्शन और जैन दर्शन' (डा० रमेशचन्द्र जैन), 'श्रावक और रत्नत्रय' (पद्मचन्द्र शास्त्री), 'कर्म सिद्धान्त की जीवन में उपयोगिता' (पुखराज जैन)।

अमर भारती ॥ सितम्बर १९८१

उपाध्याय श्री अमर मुनि के प्रवचनों के अतिरिक्त इस अंक में है ''महापर्व संवत्सरी का संदेश' (श्री ज्ञान मुनि), 'व्रत कैसे करें ?' (डा० उम्मेदमल मुनोत), 'पर्यूषण पर्व की महिमा' (गौतम मिश्र), 'सन्त-साहित्य में जैन-सन्तों का योगदान' (अगरचन्द नाहटा), 'विनयचन्द चौबीसी' (नथमल लूणिया)।

जिनवाणी ॥ सितम्बर १९८१

आचार्य श्री हस्तीमल जी के प्रवचनों के अतिरिक्त इस अंक में है 'पर्यूषण : आत्म शुद्धि का पर्व' (डा० सोहनलाल पाटनी), 'संवत्सरी : एक महान् पर्व' (गीता जैन), 'स्थानकवासी परम्परा के राजस्थानी कवि' [३] (डा० नरेन्द्र भानावत)।

जैन जगत ॥ सितम्बर १९८१

संपादकीय के अतिरिक्त इस अंक में है 'पर्यूषणों में स्वाध्याय और ध्यानाभ्यास बढ़ावें' (अगरचन्द नाहटा), जैन शास्त्रों में प्रायश्चित मनोविज्ञान' (मुनिश्री सुखलाल जी), 'धर्म के दस लक्षण' (डा० नेमीचन्द जैन)।

श्रमण ॥ सितम्बर १९८१

इस अंक में है 'पर्यूषण : आत्म संक्रान्ति का अद्वितीय अध्याय' (डा० नरेन्द्र भानावत), 'मानव धर्म का सार' (जगदीश सहाय), 'सांस्कृतिक पर्व की सामाजिक उपयोगिता' (साध्वी श्री अणिमाश्री), 'जीवन का सत्य' (डा० रतन कुमार जैन), 'पर्यूषण : आत्मा की उपासना का पर्व' (मुनि रामकृष्ण)।

Vol. V No. 6 : Titthayara : October 1981
Registered with the Registrar of Newspapers for India
under No. R. N. 30181/77

Hewlett's Mixture
for
Indigestion

DADHA & COMPANY

and

C. J. HEWLETT & SON (India) PVT. LTD.

22 STRAND ROAD
CALCUTTA-700001